

AMOGHVARTA

ISSN : 2583-3189



गीता में जगत के प्रति तात्विक एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि

ORIGINAL ARTICLE



Author

सुशीला चंद्रा

शोधार्थी

स्नातकोत्तर दर्शनशास्त्र विभाग
विनोबा भावे विश्वविद्यालय
हजारीबाग, झारखंड, भारत

शोध सार

श्रीमद्भगवद्गीता में जगत के प्रति तात्विक और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण का एक अनूठा मेल देखने को मिलता है। गीता इस जगत् को केवल भौतिक तत्वों से निर्मित भौतिक या स्थूल जगत् नहीं मानती बल्कि इसे मानव के आन्तरिक विकास और चेतना की अभिव्यक्ति का स्थान समझती है। गीता के अनुसार जगत् ईश्वर के दो प्रकृतियों से मिलकर बना है – अपरा प्रकृति (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार) जो कि भौतिक तत्व है और परा प्रकृति (जीव तत्व) परमात्मा जो पूरे ब्रह्मांड को जीवन शक्ति देती है। गीता के अनुसार यह संसार क्षणभंगुर और दुःखों से युक्त है। अतः मानव को परम तत्व को जानते हुए तथा जगत की क्षणभंगुरता को समझते हुए कर्म करना चाहिए तथा मोक्ष की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए।

मुख्य शब्द

जगत्, अपरा प्रकृति, परा प्रकृति, मनोवैज्ञानिक दृष्टि, तात्विक दृष्टि.

भूमिका

गीता के अनुसार जगत्-विचार

गीता के अनुसार यह जगत सत्य है क्योंकि यह ईश्वर की सृष्टि है। माया के द्वारा ईश्वर संसार की रचना करते हैं। माया ईश्वर की असीम शक्ति है और इसी के द्वारा वह नाना प्रकार के कार्य एवं सृष्टि की रचना करते हैं। गीता में वर्णित जगत् विचार शंकराचार्य के जगत् विचार से मेल खाता है क्योंकि शंकराचार्य के अनुसार भी ईश्वर माया के द्वारा जगत् की रचना करते हैं। यह संसार माया की उपज है परंतु एक मुख्य अंतर यह है कि गीता में ईश्वर और जगत् को सत्य माना गया है जबकि वेदांत में ईश्वर और जगत् असत्य हैं। शंकराचार्य के अनुसार:

ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या।

जीवो ब्रह्मैव नापरः।।

शंकराचार्य के मतानुसार जगत् सत्य है परंतु व्यावहारिक दृष्टि से, पारमार्थिक दृष्टि से जगत् असत्य है तथा अन्य सभी चीज भी असत्य है, परंतु प्रश्न उठता है कि कोई भी चीज या तो सत्य होगी या असत्य। वह दोनों नहीं हो सकती। इसके उत्तर में शंकराचार्य ने कहा है कि जगत् न तो सत् है और न असत्, वह अनिवर्चनीय है, अर्थात् जिसके संबंध में कुछ कहा नहीं जा सकता, जिसकी सिर्फ अनुभूति ही की जा सकती है। प्रश्न उठता है कि यदि ब्रह्म ही वास्तविक है तो संसार प्रगट ही क्यों होता है। हम अलगाव का अनुभव क्यों करते हैं।

शंकराचार्य ने उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए बताया है कि सत्य के दो स्तर होते हैं – व्यावहारिक सत्ता (सापेक्षिक वास्तविकता) और परमार्थिक सत्ता (परम वास्तविकता)। व्यावहारिक सत्ता में अज्ञानी व्यक्ति को संसार वास्तविक प्रतीत होता

है ठीक वैसे ही जैसे स्वप्न देखते समय सपना वास्तविक लगता है। यह सामान्य अनुभव का स्तर है जहां हम अनेकता, जन्म, मृत्यु आदि को देखते हैं। परमार्थिक सत्ता सर्वोच्च दृष्टिकोण है जिसमें केवल ब्रह्म ही विद्यमान है और संसार मृगतृष्णा के समान दिखाई पड़ता है जिसमें संसार अंततः वास्तविक नहीं होता है। आगे शंकराचार्य रस्सी और सांप के द्वारा संसार की व्याख्या करते हैं जैसे मान लीजिए एक व्यक्ति धुंधली रोशनी में चल रहा है और रस्सी को सांप समझकर डर जाता है। उसका डर वास्तविक है जबकि सांप का अस्तित्व ही नहीं है। ठीक इसी प्रकार अविद्या के कारण हमें यह संसार वास्तविक दिखाई पड़ता है पर वास्तव में सिर्फ ब्रह्म ही सत्य है। परंतु प्रश्न उठता है कि जगत् जब असत्य है तो वह वास्तविक कैसे दिखाई पड़ता है? शंकराचार्य इसका उत्तर माया सिद्धांत के द्वारा देते हैं। शंकराचार्य के अनुसार माया ब्रह्म की एक अचिंत्य और अनिवर्चनीय शक्ति है, जो वास्तविक और अवास्तविक के बीच भ्रम पैदा करती है। यह संपूर्ण भौतिक जगत् को सत्य के रूप में दिखाती है, जबकि परम सत्य केवल एकमात्र निर्गुण ब्रह्म है। माया के संबंध में कहा गया है कि यह न तो पूरी तरह सत् है और ना पूरी तरह असत्। इसके दो कार्य हैं एक कार्य ब्रह्म (सत्य) को छुपाना और दूसरा उसकी जगह इस जगत् को दिखाना फिर जब यह माया व्यक्तिगत स्तर पर मनुष्य को बांधती है तब इसे अविद्या कहा जाता है।

उपनिषदों में माया को 'प्रकृति' या 'शक्ति' कहा गया है जो नाम-रूप की रचना करती है। विज्ञान के अनुसार वैज्ञानिकों का मानना है कि हमारा मस्तिष्क बाहरी दुनिया का पूरा चित्र नहीं बल्कि धारणा प्रस्तुत करता है जैसे – स्वाद, रंग, आकार आदि ये सभी मानव मस्तिष्क की उपज है। वे मस्तिष्क की कल्पना हैं जो हमें वास्तविक प्रतीत होते हैं। गीता के अनुसार:

भूमिरापोनलो वायुः खं मनोबुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥

अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार मेरी प्रकृति इन आठ रूपों में बंटी हुई है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि यह मेरी अपरा प्रकृति है किंतु इससे अन्य मेरी उसे जीवरूपा परा प्रकृति को जो जिसके द्वारा यह समस्त जगत् धारण किया जाता है।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥

अर्थात् पार्थ तू ऐसा समझ की समस्त प्राणी परा-अपरा प्रकृति रूप कारण से उत्पन्न होने वाले हैं तथा मैं संपूर्ण जगत् का उत्पत्ति-विनाश का परम कारण हूँ। मुझसे बढ़कर अन्य कोई भी जगत् का कारण नहीं है। सूत में पिरोयी मणियों की तरह यह समस्त जगत् मुझ में पिरोया हुआ है।

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट होता है कि ईश्वर ही जगत् का आदि कारण है और उसके अंदर ही चेतन आत्माएँ और चेतन प्रकृति दोनों हैं। ये दोनों इसके उच्चतर और निम्नतर पक्ष माने जाते हैं। उच्चतर प्रकृति को गीता में 'परा' कहा गया है और निम्नतर प्रकृति को 'अपरा'। गीता के अध्ययन से हमें एक बात स्पष्ट समझ आती है कि परमात्मा का अस्तित्व सार्वभौम है, जिसमें अवचेतन और चेतन अपनी संपूर्णता में विद्यमान एवं विराजमान है। हमारे शरीर, इन्द्रिय, प्राण, बुद्धि के रूप में आत्मा शरीर धारण करती है जिससे अहंकार उत्पन्न होता है और इसी अहंकार के कारण व्यक्ति जीवन जीता है क्योंकि अहंकार के नाश होने पर व्यक्ति को अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। जब तक अहंकार है तभी तक सारी चीजें हमें घेरे रहती हैं तथा हम संसार के सारे चीजों से घिरे होते हैं जैसे ही यह 'मैं' गया सारी चीजें भी उसके साथ चली जाती हैं। आगे श्री कृष्ण कहते हैं कि यह जो सब कुछ तुम देख रहे हो वह मैं ही हूँ। गीता के अनुसार:

ये चोव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये
मत् एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु तेमयि ॥

अर्थात् जो भी सात्त्विक भाव है तथा जो राजसिक और तामसिक भाव है उन सबको तू मुझसे ही उत्पन्न हुआ जान परंतु मैं उनके वश में नहीं हूँ। वे मुझ में हैं। इन तीन गुणमय भावों से संपूर्ण जगत् मोहित है। इन गुणों से अतीत मुझ अविनाशी को नहीं जानता फिर श्रीकृष्ण आगे कहते हैं:

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥

अर्थात् यह मेरी त्रिगुणमयी अलौकिक माया दुष्कर है परंतु जो मेरी ही शरण में आते हैं वह इस माया से तर जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि मानव के अंदर जो सत्व, रज और तम है वह सभी ईश्वर से ही उत्पन्न होते हैं परंतु साधारण मानव

यह नहीं समझ पाता क्योंकि श्रीकृष्ण का कहना है कि यह जगत् जो है वह उनकी माया के कारण मोहित है। उन्होंने ऐसा मोह जाल बिछाया है कि कोई भी व्यक्ति उनके मोह जाल से निकल नहीं पाता, जो निकल पाते हैं वह भी तभी निकल पाते हैं जब वे उनकी शरण में आते हैं अर्थात् बिना ईश्वर कृपा के जगत् और उनकी लीला को समझना बहुत ही कठिन और दुष्कर कार्य है। आगे श्रीकृष्ण मानव के संबंध में मनोवैज्ञानिक तथ्य को स्पष्ट करते हुए बतलाते हैं की माया के द्वारा जिनका ज्ञान हर लिया जाता है वे आसुरी भाव यानी की नकारात्मक भाव वाले मानव होते हैं और वैसे मानव मूढ़ होते हैं जिसके कारण वे उनकी शरण में नहीं आते।

गीता के अनुसार:

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥

अर्थात् श्रीकृष्ण कहते हैं हे अर्जुन! चार प्रकार के भक्त (मानव) मेरी प्रार्थना अर्थात् ईश्वर की आराधना करते हैं – (i) आर्त (ii) जिज्ञासु (iii) अर्थार्थी (iv) ज्ञानी।

गीता के अनुसार ज्ञानी भक्त श्रेष्ठ हैं क्योंकि ज्ञानी को श्रीकृष्ण अपनी आत्मा बताते हैं, क्योंकि वह समानहित और समान चित्त वाला होता है और वह ईश्वर के ही आश्रित है।

आगे गीता में कहा गया है कि जगत् की सत्ता स्वतंत्र नहीं है, जीव (आत्मा) ही जगत् को धारण करता है, संसार के सारे सुख-दुःख इसी से उत्पन्न होते हैं। गीता के अनुसार प्रकृति और पुरुष दोनों ही अनादि है तथा विकार अर्थात् देह, इन्द्रिय आदि और गुण अर्थात् सत्त्व, रज, तम को प्रकृति से ही उत्पन्न माना गया है। प्रकृति कार्य (शरीर) और करण (इन्द्रियों) के द्वारा होने वाली क्रियाओं के कर्त्तापन में हेतु कही जाती है और पुरुष सुख-दुःख के भोक्तापन में हेतु कहा जाता है क्योंकि पुरुष प्रकृति में स्थित हुआ ही प्रकृति से उत्पन्न गुणों को भोगता है तथा इन गुणों के प्रति आसक्ति ही इस पुरुष के अच्छी बुरी योनियों में जन्म लेने में कारण है। कहने का तात्पर्य है कि तात्त्विक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाए तो मानव अपनी आदतों और कर्म संस्कार से बच नहीं पाता तथा वो जैसा-जैसा व्यवहार, कर्म और चीजों के प्रति भाव रखता है वैसे ही योनि में जन्म ग्रहण करता है अर्थात् यदि मानव उच्च योनि में जन्म लेना चाहता है तो उसके अनुकूल उसे अपने कर्मों को भी करना अनिवार्य है, क्योंकि कर्मों से संस्कार बनते हैं जो संचित होकर अगले जन्म में विभिन्न योनियों में जन्म ग्रहण करने में हमारी सहायता करता है, क्योंकि इस देह में स्थित परम पुरुष ही समीप से साक्षिवत् देखनेवाला, अनुमोदन करने वाला, धारण और पोषण करने वाला, भोगने वाला परमात्मा है।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥

गीता के अनुसार इस संसार में जो कुछ भी स्थावर-जंगम पदार्थ उत्पन्न होता है, वह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही उत्पन्न होता है। इस संसार में समस्त विनाशशील प्राणियों में समान भाव से स्थित, विनाश रहित परमेश्वर को जो देखा है वही (यथार्थतः) वास्तव में देखता है। फिर गीता में कहा गया है कि जिस समय मनुष्य प्राणियों के अलग-अलग भावों को एक आत्मा में ही स्थित देखता है तथा सारा विस्तार उस आत्मा से ही हुआ देखता है उस समय वह ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।

श्री कृष्ण कहते हैं – हे अर्जुन! “तू ऐसा समझ की संपूर्ण भूत इन दोनों प्रकृतियों से ही उत्पन्न होने वाले हैं और मैं संपूर्ण जगत् का प्रभाव तथा प्रलय हूँ अर्थात् इस संपूर्ण जगत् का मूल कारण हूँ।” गीता में ‘प्रभवः’ का अर्थ है कि मैं ही इस जगत् का निमित्त कारण हूँ, क्योंकि सम्पूर्ण सृष्टि मेरे संकल्प से ही अस्तित्व में आया है। जिस प्रकार घड़े के निर्माण में कुम्हार निमित्त कारण होता है ठीक उसी प्रकार इस जगत् के निर्माण में ईश्वर भी निमित्त कारण है। फिर प्रलय का अर्थ है इस जगत् का उपादान कारण भी मैं ही हूँ, जैसे घड़ा बनाने में मिट्टी उपादान कारण है ठीक उसी प्रकार सृष्टि की रचना में मैं ही उपादान कारण हूँ। बिना मिट्टी के घड़ा नहीं बन सकता ठीक उसी प्रकार बिना मेरे इस संसार की रचना असंभव है फिर श्रीकृष्ण कहते हैं कि मेरे सिवा इस जगत् का दूसरा किंचितमात्र भी कोई कारण तथा कार्य नहीं है।

गीता में कृष्ण कहते हैं – अर्थात् मैं पृथ्वी में पावन गन्ध हूँ, अग्नि में तेज हूँ, समस्त प्राणियों में जीवन हूँ और तपस्वियों में तप हूँ। हे पार्थ मुझे तू समस्त प्राणियों का सनातन बीज अर्थात् नित्य कारण जान। मैं बुद्धिमानों में बुद्धि और तेजस्वियों का तेज हूँ।

अतः उपर्युक्त कथनों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि सभी प्राणियों का आदि बीज स्वयं ईश्वर है क्योंकि उन्होंने स्वयं कहा है कि वो जलों में रस है, चन्द्रमा और सूर्य में प्रकाश है, समस्त वेदों में ओंकार है, आकाश में शब्द है तथा पुरुषों में पुरुषत्व है। उनके सिवा सृष्टि में कुछ है ही नहीं। आदि से अन्त तक सर्वत्र वो ही वो व्याप्त है। उनके अलावा सृष्टि की कल्पना करना ही असम्भव है। उपर्युक्त कथनों से मूल तथ्य यह निकलकर आता है कि हम चाह कर भी स्वयं को ईश्वर से अलग नहीं कर सकते क्योंकि उनके भावात्मक विचारों में वो तो है ही परन्तु उनके अस्तित्व के नकारात्मक विचारों में भी वो है, जैसे यदि हम कहते हैं कि ईश्वर नहीं है तो तभी भी हम वह ईश्वर को कह कर ही नकार रहे हैं।

वास्तव में इस भौतिक जगत् की अपने आप में कोई सत्ता नहीं है फिर भी वह अस्तित्ववान है और यह हमें स्पष्ट दिखाई भी पड़ रहा है तथा सत्य भी प्रतीत हो रहा है। हमारे और मानव, जीव-जन्तु, पशु-पक्षी सभी के व्यवहार इस जगत् में ही संपन्न होते हैं, और हमें उसकी क्षणभंगुरता का कोई अनुभव भी नहीं होता। इसका एकमात्र कारण यही है कि यह जगत् भगवत्स्वरूप है। इसकी सत्यता, स्थिरता और श्रेष्ठता ईश्वर के कारण ही बनी हुई है।

ईश्वर जब जगत् की रचना करता है तो उसमें सूक्ष्म से सूक्ष्म और वृहद से वृहदतर जीव होते हैं। जीवों का विभिन्न योनियों में जन्म उनके संचित कर्मों द्वारा ही आवंटित होता है। जो जीव आसक्त होकर कर्म करते हैं सिर्फ वही जीव इस संसार चक्र में दोबारा आते हैं और तब तक आते हैं जब तक कर्मों के फलों से उनकी आसक्ति खत्म नहीं होती। वहीं दूसरी ओर जो जीव ईश्वर में मन लगाकर उनका ध्यान करते हुए कर्म करते हैं वो उन्हीं को प्राप्त होते हैं। वो दुबारा जन्म ग्रहण नहीं करते। वो मुक्त हो परमधाम को चले जाते हैं। ईश्वर के बनाई सृष्टि की यही व्यवस्था है।

बाइबल के अनुसार यह जगत् ईश्वर की रचना है और इसकी रचना ईश्वर ने शून्य से की है अर्थात् इच्छा मात्र से की है। बाइबल में ईश्वर को सत्य माना गया है इसलिए इसकी रचना भी सत्य है। इस सृष्टि की रचना करने के पीछे उसका कोई उद्देश्य नहीं है क्योंकि ईश्वर पूर्ण है और इच्छा का अर्थ अपूर्णता है। ईश्वर इस विश्व की सृष्टि ही नहीं करता बल्कि इसको व्यवस्थित भी करता है। इस संसार की ओर दृष्टिपात करने पर पता चलता है कि संसार में एक पूर्व स्थापित सामंजस्य है अर्थात् दिन के बाद रात, मौसम का बदलना, नदियों का बहना, फूलों का खिलना आदि-आदि। मानव से लेकर पशु-पक्षी और पेड़-पौधों तक में विकास, उन्हीं ईश्वर की देन है। उन्हीं के संरक्षण में संपूर्ण सृष्टि का विकास हो रहा है परन्तु ईश्वर विश्व से भिन्न है। यह सृष्टि उनकी रचना है इसलिए यह अपूर्ण है। विश्व में अनेक प्रकार के अशुभ हैं और यह अशुभ विश्व की विशेषता है क्योंकि अशुभ मानव की इच्छा स्वातंत्र्य का परिणाम है। बाइबल के अनुसार विश्व ही वह स्थान है जहाँ मानव कर्मभूमि में कर्म कर स्वयं को कर्म से विमुक्त कर सकता है।

अतः जगत् सम्बंधी तथ्यों, विचारों को यदि तात्त्विक एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाए तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस विश्व में जो भी विभूतियाँ हैं, जिन वस्तुओं में विलक्षणता है उन सब में ईश्वर, परमात्मा, या भगवान का वास है। ईश्वर सभी में व्याप्त है। दूसरी ओर जगत् में जो भी बुरी, अशुभ, अपूर्ण चीजें हैं, उनमें भी ईश्वर व्याप्त है। इस जगत् में जो कुछ भी हो रहा है, हो चुका है या होने वाला है उन सबों का आदि कारण एकमात्र ईश्वर है। 'परा' और 'अपरा' प्रकृति उन्हीं से जन्म ले पाते हैं और पुनः उन्हीं में वापस लौट जाते हैं। संसार में जो कुछ भी हो रहा है वह सब ईश्वर की इच्छा से हो रहा है। इस संसार का एक पत्ता, एक कण भी यहाँ से वहाँ नहीं हो सकता बिना उनकी मर्जी के। इस जगत् में शुभ-अशुभ व्याप्त है परन्तु यह स्थायी नहीं है, क्योंकि गीता के अनुसार अशुभ का कारण अविद्या, अज्ञान है। अविद्या के कारण मनुष्य का ज्ञान ढक गया है और वह स्वयं को अज्ञानी समझने लगा है जबकि उसका वास्तविक स्वरूप ज्ञान स्वरूप है। मानव वास्तव में सच्चिदानंद है। वह सत्, चित्, आनंद है, परन्तु अज्ञान के कारण कर्मों के बंधन में फंसा हुआ है जिसके कारण उसे बार-बार जन्म ग्रहण करना पड़ रहा है। परन्तु मानव को जैसे ही ज्ञान की प्राप्ति होती है, वह अविद्या से स्वयं दूर हो जाता है तथा विभिन्न पाप से, कर्मों से मुक्त होकर मोक्ष की प्राप्ति कर लेता है।

अतः स्पष्ट होता है कि जगत् अशुभ है परन्तु इससे निकलने का मार्ग भी जगत् से होकर ही जाता है। इस जगत् में लोक कल्याण और लोक संग्रह करते हुए मानव अपने ज्ञान, कर्म और भक्ति से मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है तथा जन्मों के कर्मों के बंधन और विभिन्न जन्मों के कर्मों से उत्पन्न संस्कार को नष्ट कर अपने वास्तविक स्वरूप में लौट सकता है।

निष्कर्ष

जगत् के प्रति तात्त्विक दृष्टि हमें यह सिखाती है कि यह संपूर्ण संसार सिर्फ भौतिक तत्व नहीं बल्कि उस परम तत्व ईश्वर की एक अभिव्यक्ति है तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि हमें यह सिखाती है कि यह संसार सिर्फ एक रंगमंच है, जहाँ हम सभी

को अपने-अपने अभिनय में सर्वोत्तम प्रदर्शन करना है तथा किसी भी किरदार से आसक्त हुए बिना द्रष्टा भाव से कर्म करते हुए कर्मों के बंधन से एक दिन मुक्त हो जाना है।

संदर्भ सूची

1. सिंह, हरेंद्र प्रसाद (1996). *भारतीय दर्शन की रूपरेखा*. मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, पृ. 296।
2. स्वामी, ब्रह्मस्थानंद (2002). *श्रीमद्भगवद्गीता (हिन्दी अनुवाद सहित)*, रामकृष्ण मठ, नागपुर, 7/4, 6, 10, 12, 14, 16, 13/21, 27 पृ. 296, 211, 111।
3. राधाकृष्णन्, सर्वपल्ली (1969). *भगवद्गीता*, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, पृ. 236, 238।

---==00==---